

जाति व राजनीति में सम्बन्ध

Ekta Hussian

Assistant Professor, Department of Political Science, MVSC (Udaipur), JRN RV (Deemed to-be-University) Udaipur,
Rajasthan, India

सारांश

भारत में औपनिवेशिक दौर में और उसके बाद के शुरुआती दशकों में जाति को आधार बनाकर परिवर्तनकारी राजनीति करने की कोशिशें हुईं। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों में राजनीतिक चेतना भरने की पुरजोर कोशिश की। दक्षिण भारत में रामास्वामी नायकर पेरियार के नेतृत्व में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन चला। इसी तरह राम मनोहर लोहिया ने पिछड़ों की राजनीतिक लामबन्दी करके कांग्रेस और ऊँची जातियों के वर्चस्व को तोड़ने की कोशिश की, लेकिन इसके बावजूद सामान्यतया: जाति और राजनीति के आपसी सम्बन्धों को सन्देह की नजर से देखा जाता है। राजनीति में जातिवाद की धिकायत करते हुए अक्सर इसे हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए ख़ास माना जाता है। आमतौर पर लोकतान्त्रिक राजनीति को आधुनिकता और जाति को परम्परा का प्रतीक मानते हुए दोनों के विरोधाभासपूर्ण सम्बन्धों पर जोर देने की प्रवृत्ति रही है। अकादमिक स्तर पर राजनीति में जाति की भूमिका को समझने की कोशिश सन् साठ के दशक में शुरू हुई। 1964 में लिखी अपनी पुस्तक में मोरिस जौन्स ने यह माना कि स्वतन्त्र भारत की नई परिस्थितियों के कारण राजनीति जाति के लिए तथा जाति राजनीति के लिए महत्वपूर्ण हो गई है।

मूल शब्द: राजनीति, भारत, औपनिवेशिक, जाति

प्रस्तावना

ए. आर. देसाई लिखते हैं, “आधुनिक उद्योग, औद्योगिक विकास, ग्रामिण परिवेद्य में स्वावलम्बन और स्वायत्तता, नए व्यवसायों का विकास, संचार के साधनों का उद्भव और नई कानून व्यवस्था की संरचना ने जाति व्यवस्था पर अत्याधिक प्रभाव डाला है। जाति अब व्यवसाय विरोध से सम्बन्धित नहीं रह गई है, जिससे अभिप्राय यह है कि धीरे-धीरे परम्परागत अर्थव्यवस्था और धार्मिक बन्धनों का अंत हो रहा है।”

जाति की लोकतान्त्रिक राजनीति में भूमिका की महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इसने जाति को सामाजिक सम्बन्धों के परिवेद्य से निकाल कर प्रतियोगी राजनीति का अभिन्न अंग बना दिया। अतः जो प्रक्रिया अंग्रेजी शासन के अन्तिम काल में रूजु हुई थी। वह स्वतन्त्र भारत में सार्वभौमिक एवं वयस्क मताधिकार प्रदान करने से नई संवैधानिक व्यवस्था के साथ अधिक प्रभावी हुई है। परिणामस्वरूप जाति भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण तत्व बन गई है। राजनीति एक प्रतियोगितात्मक सामाजिक व सामूहिक क्रिया है जिसका उद्देश्य शक्ति को प्राप्त करना है, ताकि कुछ अन्य प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके। किसी भी व्यक्ति समूह के लिए अपनी स्थिति को मजबूत करने का यह एक संवैधानिक तरीका है।

रॉबर्ट हार्डग्रेव के अनुसार, “जाति, भारतीय समाज व आर्थिक जगत् का एक आधारभूत पक्ष है, भारतीय राजनीति पूर्णतः इसी पर आधारित है।” कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार, जाति नई भूमिका अदा कर रही है, जिसमें वह सबसे ज्यादा प्रभाव राजनीति पर डाल रही है। यह कई स्तरों पर हित समूहों व दबाव समूहों के रूप में निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है। जातिगत संस्थाएँ भारतीय प्रजातन्त्र को प्रतिनिधित्व, नेतृत्व प्रक्रिया को प्रभावित करती है। जातिगत संस्थाएँ भारतीय प्रजातन्त्र को प्रतिनिधित्व, नेतृत्व व संचार आदि महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है। जातियों के द्वारा ही कृषक वर्ग को इस प्रकार शिक्षित किया जाता है कि वे राजनीति में प्रभाक्वाली

द्वग से भागीदारी कर सकें। जाति की जनसंख्या उस जाति को प्रजातान्त्रिक राजनीति में प्रभाव दिलाने व सत्ता प्राप्त करने में महत्वपूर्ण रूप से सहायक होती है।”

आन्द्रे बेटिल के अनुसार, “जाति ही वह महत्वपूर्ण साधन है, जिसके माध्यम से भारतीय जनता अपने आपको लोकतान्त्रिक राजनीति से जोड़ती है।” राजनीतिक विचारधारा मतदान व्यवहार को इतना प्रभावित नहीं करती जितना जातिगत सम्बन्ध करते हैं। जी. आस्टिन ने भी कहा है कि “पश्चिमी देशों में जो भूमिका दबाव समूह निभाते हैं वही भूमिका भारतीय राजनीति में जाति की है।”

अनेक जातीय संगठन, दबाव समूह के रूप में कार्य करते हैं, जैसे हिन्दू महासभा, जाट महासभा, अखिल भारतीय बिष्णोई महासभा, अखिल भारतीय यादव महासभा, अखिल भारतीय वैश्य महासभा, अखिल भारतीय ब्राह्मण महासभा, अखिल भारतीय गुर्जर महासभा, अखिल भारतीय कम्बोज महासभा आदि। समय-समय पर इनकी जातीय बैठकें होती हैं व इनसे सम्बन्धित जानकारी समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं में छपती रहती है। ये जातीय संगठन केवल एक जाति से सम्बन्धित होते हैं तथा केवल उसी जाति के हितों का संरक्षण करते हैं। शहरों में जातीय धर्मशालाएँ, छात्रावास, अस्पताल, सहकारी समितियाँ, संगठन व संस्थाएँ आदि संचालित हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य अपनी जाति का कल्याण करना, उसको संगठित करना उसमें राजनैतिक चेतना पैदा करना है। जातीय सम्मेलनों में जातीय नेता अपनी जाति के निजी इतिहास, सभ्यता व संस्कृति की बात करते हैं, शादी-विवाह सम्बन्धी नियमों व अन्य जातीय मुद्दों पर विचार-विमर्श करते हैं; साथ ही सरकार से अपनी जाति के विकास के लिए और अधिक संरक्षण व सुविधाओं की माँग के लिए प्रस्ताव पास किए जाते हैं।” इस आधार पर कहा जा सकता है कि जाति तथा राजनीति की अन्तः क्रिया से राजनीतिक एकता को बढ़ावा मिला है न कि राजनीतिक विघटन को।

भारतीय राजनीति में प्रत्येक स्तर पर जाति जैसे प्रभावक तत्वों की समान भूमिका नहीं होती स्थानीय या ग्रामीण स्तर पर ही जाति की भूमिका अधिक देखने को मिलती है, क्योंकि छोटे स्तर पर पंचायतों व विधानसभाओं में जनता एक दूसरे को चेहरे से पहचानती है। वहाँ पर जाति के आधार पर मतदान व्यवहार को प्रभावित करना आसान होता है; इसलिए पंचायती राज संस्थाओं में जातिगत राजनीति अधिक देखने को मिलती है।

जाति व राजनीति में सम्बन्ध

भारतीय संविधान द्वारा अस्पृश्यता को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया, जिससे सभी जातियों को समानता का दर्जा हासिल हुआ है। आरक्षण के फलस्वरूप मन्त्रिमण्डल, सरकारी सेवाएँ, विधानमण्डलों और सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों के लोगों ने प्रवेद्य किया है। इन नवीन परिस्थितियों ने जाति व्यवस्था के स्वरूप को ही बदल कर रख दिया है। भारतीय संविधान द्वारा राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को क्रियान्वित किया गया है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को एक मत का अधिकार प्रदान किया है तथा वह किसी भी राजनीतिक गतिविधि में भाग ले सकता है, जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए विधानमण्डलों में स्थान आरक्षित रखे गये हैं। सरकारों तथा विधानमण्डलों में इनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया गया है जिससे इनकी राजनीतिक महत्ता में वृद्धि हुई है। इन सुविधाओं तथा समानताओं से इन जातियों की राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि हुई है तथा इनको यह महसूस होने लगा है कि राजनीतिक सत्ता का सन्तुलन उनके हाथों में है। वर्तमान में जो उम्मीदवार पिछड़ी व अनुसूचित जातियों के वोट प्राप्त करता है वही चुनाव जीतता है।¹

भारतीय संविधान द्वारा पिछड़ी व दलित जातियों को कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। परन्तु इन सुविधाओं का लाभ इन जातियों के आम आदमी नहीं उठा पाये, बल्कि कुछ लोगों ने ही इनका लाभ उठाकर राजनीतिक उपलब्धियाँ हासिल की है, जिससे जातीय विविष्ट वर्ग का विकास हुआ है। प्रत्येक राजनीतिक दल इन विविष्ट वर्गों के सहारे ही राजनीतिक उपलब्धि प्राप्त करने का प्रयास करता है, इस प्रकार भारत में जाति का राजनीतिकरण हुआ है।

दलित चिंतक पूरणमल के अनुसार "जाति आज राजनीति एवं प्रशासन के लिए भी एक चुनौती बन चुकी है तथा 'जाति का राजनीतिकरण' आज देश के लिए एक गंभीर चुनौती बनकर राष्ट्रीय एकता के लिए ही संकट पैदा कर चुका है। जाति पर आधारित राजनीतिक दल, चुनावों में जाति के आधार पर उम्मीदवारों का चयन, जाति के आधार पर चुनाव प्रचार एवं मतदान, जाति के आधार पर मन्त्रिमण्डलों का चयन, जाति के आधार पर चुनाव प्रचार एवं मतदान, जाति के आधार पर मन्त्रिमण्डलों का गठन एवं अन्य राजनैतिक पदों पर नियुक्तियाँ और अन्ततः जाति के आधार पर आरक्षण की माँग क्या राष्ट्रीय विकास में सहायक है।"²

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया- भारत में जाति राजनीतिक क्रियाशीलता का एक अभिन्न अंग है। यह दबाव समूह के रूप में काम करती है, इसके सदस्य इसे छोड़कर किसी दूसरे समूह का हिस्सा नहीं बन सकते तथा यह राजनीतिक शक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती आ रही है। ऐसा समाज जहाँ राजनीतिकरण स्थायी स्थायी प्रभाव रखता है, वहाँ हमें राजनीति के जाति पर प्रभाव को अधिक महत्त्व देना चाहिए। रजनी कोठारी का मानना है कि राजनीति का जातिकरण नहीं होता, बल्कि जाति का राजनीतिकरण होता है। जाति व राजनीति की अन्तः

क्रिया को स्पष्ट करने के लिए रजनी कोठारीने इसे तीन भागों में बांटा है जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है -

लौकिक पक्ष- यद्यपि अन्तः क्रिया की व्यवस्था के रूप में जाति हमारा ध्यान नहीं खींच पाती, तथापि लौकिक विकास के दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था के कई महत्वपूर्ण लक्षण हैं। जाति के अन्दर विवाह, रीति-रिवाजों द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम रखने का प्रयत्न आदि। लेकिन इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि जातियों में आपस में प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा और पद बढ़ाने का भी प्रयास करती हैं। जाति के लौकिक संगठन के दो ही रूप थे - एक शासकीय रूप अर्थात् जाति पर आधारित गाँव की पंचायत और चौधराहट, दूसरा रूप राजनीतिक था अर्थात् जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का बलवर्धन या बलहास इस बात पर निर्भर था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रिय सत्ता से किस प्रकार के सम्बन्ध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर जातियों की स्थिति बनती या बिगड़ती थी। आज भी इन सब बातों का महत्त्व है।

एकीकरण पक्ष- जाति जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित कर देती है, इससे प्रत्येक व्यक्ति का अपने समाज में लगाव पैदा हो जाता है और आपस में भी एक दूसरे से बंधा रहता है। अवश्य ही व्यक्ति का लगाव और निष्ठा अपने छोटे से समूह, बिरादरी या जाति में रहता है, परन्तु हमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि बड़ी या उच्चस्तर निष्ठाओं की प्रेरणा भी व्यक्ति की जाति के ढाँचों से ही होती है। एक लोकतन्त्रीय राष्ट्र के निर्माण के सन्दर्भ में जाति प्रथा का यह प्रभाव नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है।

चैतन्य पक्ष- जाति व्यवस्था में प्रत्येक का ही नहीं बल्कि प्रत्येक जाति का भी स्थान निश्चित होता है। प्रत्येक जाति के सदस्य को यह पता होता है कि उनकी जाति किसी अन्य जाति से ऊँची या नीची है। जिन जातियों की स्थिति नीची होती है वे स्वयं को ऊँचा उठाने की कोशिश करती हैं तथा कुछ जातियाँ अपना पद ऊँचा उठाने में सफल भी होती हैं।³ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विधेय की स्थिति भी बदलती है।

रजनी कोठारी के अनुसार जातीय सदस्यों ऐसा करने के लिए सांस्कृतिक, लौकीकरण तथा बड़े लोगों से सम्बन्ध बढ़ाते हैं और राजनीति में हिस्सा लेते हैं। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की प्रवृत्तियों के कारण अक्सर गैर-ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति को छोड़ देती हैं और अन्य गैर-ब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त करने और अपनी स्थिति सुधारने की चेष्टा करती हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी जाति अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं, जैसे गुजरात के पाट्टीदार, बंगाल के यहिष्य और राजस्थान के राजपूत, जाट आदि। कुछ इलाकों में जहाँ पर ब्राह्मणों ने आधुनिकीकरण की प्रतिक्रिया का नेतृत्व नहीं किया, वहाँ अधिकार सीधे कुछ शक्तिशाली कृषक जातियों के हाथ में आए, इसलिए यहाँ ब्राह्मणीकरण या अब्राह्मणवाद की जरूरत नहीं जरूरत नहीं पड़ी और ये जातियाँ सीधे आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगीं व इन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त कर ली। आन्ध्रप्रदेश व बिहार में यह स्थिति स्पष्ट हुई, यहाँ पर राजनीति जातियों की गुटबन्दी व गठजोड़ पर आधारित है।

संस्कृतिकरण की प्रवृत्ति कुछ सामाजिक तनाव और अस्थिरता भी उत्पन्न करती है। जैसे यहूदी और नीग्रो लोग गोरे या यूरोपीय

लोगों की नकल करते हुए भी मन में उनके प्रति विरोध, ईर्ष्या या नफरत का भाव रखते हैं, उसी प्रकार के भाव छोटी जातियाँ भी ब्राह्मणों के प्रति रखती हैं। फिर भी छोटी या निम्न जातियों के स्तर पर बढोत्तरी की प्रक्रिया जारी रहती है और यह हिन्दू समाज की शक्ति का द्योतक है। सामाजिक पदसोपान में ऊपर चढ़ने में सफलता सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्रों में लौकिक शक्ति के आधार पर जातियों की स्थिति उठती और गिरती है व इनमें परिवर्तनशीलता बनी रहती है।

जाति की राजनीति

जाति को इकाई के रूप में, "जाति एक बन्द कोटि वाला समूह है, जिसके सदस्यों की प्रस्थिति, व्यवसाय, जीवन साथी को चुनने का क्षेत्र तथा दूसरे सदस्यों के साथ अन्तर्क्रिया सभी कुछ निश्चित होता है। व्यवस्था के सन्दर्भ में जाति प्रतिबन्धों का संग्रह है, इसमें सदस्यता परिवर्तन, व्यवसाय परिवर्तन, विवाह व सहभोज इत्यादि प्रतिबन्ध समाहित हैं, साथ ही जाति को मूल्यों, विधाओं तथा प्रचलनों के संग्रह के रूप में भी देखा जा सकता है।"

जे. एच. हट्टन के अनुसार, "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज अनेक आत्मकेन्द्रित और एक-दूसरे से पृथक् इकाइयों (जातियों) में विभाजित है। इन जातियों के आपसी सम्बन्ध उच्चता और निम्नता के आधार पर सांस्कृतिक रूप में निर्धारित होते हैं।"

भारतीय समाज में एक जाति के व्यक्ति पर अन्य जातियों के सदस्यों के साथ खान-पान के क्षेत्र में अनेक प्रतिबन्ध हैं, अधिकांश जातियों के अपने निश्चित व्यवसाय होते हैं, सभी जातियों में ऊँच-नीच का एक स्पष्ट संस्तरण है जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च है व जाति व्यक्ति के जन्म से निर्धारित होती है।" संरचनात्मक विधेयताओं के तहत सम्पूर्ण जाति व्यवस्था अनेक खण्डों में विभाजित होती है, तथा प्रत्येक खण्ड सजातीयता की भावना के द्वारा अपने सदस्यों को संगठित रखने और उन्हें जाति नियमों के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करता है। सम्पूर्ण जाति व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँच-नीच का एक निश्चित संस्तरण मिलता है। संस्थात्मक विधेयताओं से तात्पर्य उन प्रतिबन्धों से है, जिनका जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विधेय महत्त्व है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति के सदस्यों के द्वारा स्पर्ध किए भोजन को ग्रहण करने की अनुमति दी जाती है तथा प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह अपने आनुवांशिक व्यवसाय के द्वारा आजीविका अपार्जित करे। सबसे कठोर प्रतिबन्ध विवाह के क्षेत्र में है जिसमें व्यक्ति को अपनी जाति और उपजाति के बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती व अन्तर्विवाह ही जाति व्यवस्था का सार तत्त्व है। सामाजिक व्यवस्था में सभी जातियों के अधिकार उनकी उच्चता व निम्नता के अनुसार निर्धारित किए गए हैं।"

क्रोबर ने जाति को परिभाषित करते हुए कहा है कि "जाति नृवंशीय इकाई का एक अन्तर्विवाही, वंशानुगत उपविभाग है जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य ऐसे भागों की तुलना में उच्च या निम्न होती है। जातियाँ सामाजिक वर्गों के विधेय स्वरूप हैं जो कम-से-कम प्रवृत्ति में प्रत्येक समाज में मिलती हैं।" ब्रूगल ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि, "जाति वंशानुक्रम आधार पर विधिष्ठ श्रेणीबद्ध रूप से गठित समूह है व जाति में मुख्यतः तीन विधेयताएँ समाहित हैं—पैतृक विधिबद्धता तथा तिरस्कार। अन्तर्विवाह, सहभोज प्रतिबन्धों तथा सम्पर्क से स्पष्ट होती है।"

ई. ब्लंट ने जाति की परिभाषा इस प्रकार दी है, "जाति सगोत्र विवाह परक एक समूह है या ऐसे ही परिवारों का संकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है तथा इसकी सदस्यता वंशानुगत होती है। इस समूह में सामाजिक निषेध रहता है कि सदस्यगण अपनी जाति से बाहर विवाह सम्बन्ध न करें। इसके अलावा इनकी वंशानुगत आजीविका होती है तथा ये एक ही वृत्ति

ग्रहण करने में विष्वास रखते हैं। सभी सदस्य अपनी जाति का एक ही उद्भव मानते हैं तथा उस जाति में सम्मिलित परिवार उस जाति के अभिन्न अंग होते हैं।"

गजेटियर ऑफ इण्डिया में जाति के बारे में बताया गया है कि, "श्रेणी व्यवस्था, अन्तर्जातीय विवाह, एक निश्चित व्यवसाय, खान-पान और धूम्रपान के सम्बन्ध, प्रथाओं, पहरावे, भाषा आदि के निश्चित नियम, छुआछूत का भाव, कर्मकाण्ड, जातियों में ऊँच-नीच का भाव, जाति तृप्ति उपजाति के संगठन आदि जाति व्यवस्था के ही मुख्य आधार हैं।"

एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार, "किसी स्थानीय समुदाय के एक समूह के लोगो के परम्परागत व्यवसाय के आधार पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे वंश को एक विधेय जाति की संज्ञा दी जा सकती है। इस जाति को स्थानीय पदसोपान में अपनी जाति के अनुसार पद प्राप्त होती है तथा आपसी जातीय सम्बन्ध सामान्यतया शुद्धता के सिद्धान्त पर संचालित होते हैं।"

जी. एच. घुर्ये का यह मानन है कि जाति को परिभाषित करने की कोई भी कोविद्य इसकी जटिलता के कारण नाकाम हो जाएगी।

उन्होंने जाति को विधेयित करते हुए कहा है कि, "जाति व्यवस्था में वंशानुगत सदस्यता, श्रेणीबद्धता, अन्तर्विवाह, भोजन व सामाजिक व्यवहार पर प्रतिबन्ध, पेये के स्वतन्त्र चुनाव पर प्रतिबन्ध तथा नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ, आदि विधेयताएँ अपरिवर्तनशीलता की हद तक समाहित हैं।"

हर्बर्ट होप रिजले के अनुसार, "जाति एक परिवारों का समूह है जिसका एक साझा नाम है। ये परिवार मानवीय व दैवीय आस्थाओं में बंधे होते हैं। यह नाम एक विधेय व्यवसाय से जुड़े लोगो से सम्बन्धित है तथा एक परिवर्तनशील अन्तर्समूह है जो एक बहुत बड़े समूह का भाग है।"

आन्द्रे बैटिल के अनुसार, "जाति एक भ्रमपूर्ण शब्द है, क्योंकि कुछ विद्वान् तो जाति तथा वर्ण को एक ही मानते हैं, कुछ इनको अलग-अलग मानते हैं व कुछ विद्वान् जाति को उपजाति या गोत्र मानते हैं।" उन्होंने कहा है कि "जाति एक सामाजिक समूह है जिसमें अन्तर्जातीय विवाह, उत्तराधिकार तथा एक विधेय प्रकार के सांस्कृतिक लक्षण पाये जाते हैं, जो एक जाति को अन्य जातियों से अलग करते हैं। प्रत्येक जाति का अपना अनग व्यवसाय होता है जिससे एक जाति का दूसरी जाति से अन्तर स्पष्ट झलकता है।"

जाति के अन्दर अधिकतम मेल-मिलाप होता है; जाति के मध्य निकटता तथा दूरी की अवधारणा विद्यमान रहती है। ए. एल. कोपर ने बताया है कि, "जाति के मध्य निकटता तथा दूरी की अवधारणा विद्यमान रहती है। ए. एल. कोपर ने बताया है कि, "जाति एक आन्तरिक एवं पैतृक उप-संरचना है, जो एक विधिष्ठ वर्ग है जिसे समाज में दूसरे वर्गों के साथ उच्च या निम्न स्थान प्राप्त है।" राम आहूजा के अनुसार जाति 'वर्ण' का विकसित रूप है जो प्राचीन भारत में वर्ग के रूप में आरम्भ हुआ था और धीरे-धीरे इसे धार्मिक मान्यता प्राप्त हो गई।"

एमाइल चार्ल्स के अनुसार, "जाति पूर्णतः एक सहकारी समूह है व मूलतः पैतृक है जो परम्परागत आत्मनिर्भर संस्थाओं के आधार पर परिषदों व सभाओं में कम या पूर्ण वर्चस्व को निर्धारित करती है। ये लोग प्रायः त्यौहारों को मनाने के लिए एक साथ एकत्रित होते हैं। इससे आगे ये जातिगत समूह एक दूसरे के साथ समान व्यवसाय, व्यावहारिक सामान्य प्रथाओं आदि के साथ एंघे होते हैं, जैसे शादी-विवाह, खान-पान, रहन-सहन आदि। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में जाति के सदस्य एकजुट होकर हथियार के रूप में सामाजिक स्तर पर अपने खिलाफ होने वाले क्रिया-कलापों में भाग लेने वाले जातीय सदस्यों को दण्डित करने व सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ताकत का प्रयोग करते हैं।"

निष्कर्ष

भारतीय प्रयासनिक तन्त्र में प्रत्येक स्तर पर स्थानीय, राज्य व राष्ट्रीय स्तर पर जाति एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में भूमिका अदा करती है। इतना ही नहीं, यह केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् के निर्माण में भी सहायक होती है। केन्द्रीय स्तर पर प्रत्येक जाति को मन्त्रिपरिषद् में स्थान देने का प्रयास किया जाता है तथा इन जातीय आधार पर बने मंत्रियों का अपनी जाति से सीधा सम्बन्ध रहता है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि जाति ने भारतीय राजनीति में नकारात्मक भूमिका निभाई है। पुरुषोत्तम अग्रवाल के मतानुसार, “आज जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की मूलभूत राजनीतिक समस्या है; आज भारतीय राजनीतिज्ञों के सामने यदि कोई सबसे बड़ा सवाल खड़ा है तो वह है जातिवाद।”

संदर्भ सूची

1. चौबे, कमल नयन; जातियों का राजनीतिकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 34.
2. आहुजा, राम; भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1995, पृ. 202.
3. श्रीनिवास, एम. एन.; कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया एण्ड अदर एसेज, एधिया प्रकाशन, बम्बई, 1962, पृ. 66.
4. हट्टन जे. एच.; कास्ट इन इण्डिया : इट्स नेचर, फंक्यन एण्ड ओरिजिन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1961, पृ. 69.
5. राजकिशोर (संपा.) जाति प्रथा का विकास, आज के प्रचन, जाति का जहर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 15-16.
6. मुखर्जी, राम कृष्ण; “कास्ट इन इटसैल्फ, कास्ट एण्ड क्लास और कास्ट इन क्लास”, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, वॉ. ग्गट, नं. 27, 3 जुलाई, 1997, पृ. 175.
7. दत्त, एन.के.; ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया, हिन्दुस्तान प्रकाशन, नई दिल्ली, 1931, पृ. 4.
8. घुर्ये, जी.एस.; कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1961, पृ. 27.
9. कोबर, ए. एल.; “कास्ट”, इन्सायक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस, लन्दन, वॉ. प्प, 1939, पृ. 254.
10. बुग्गल, सी.; द एसैन्स एण्ड द रियलिटी ऑफ कास्ट सिस्टम, कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डिया सोसियोलॉजी, नं. 2, 1958, पृ. 49.
11. ब्लंट, ई. ए. एच.; द कास्ट सिस्टम ऑफ नार्दर्न इण्डिया, एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1969, पृ. 112.